

आपने लिखा

संदर्भ के अंकों का अध्ययन जारी है। अभी-अभी अंक-13 पढ़ा। सभी रचनाएं प्रभावी हैं। बंकर में जीवन एक रोचक अनुभव गाथा थी। संभवतः इसी तरह के या इससे कुछ भिन्न अनुभव अंतरिक्ष यात्रियों के एकांकीपन में भी होते होंगे।

इसी अंक में रमाकांत अग्निहोत्री के लेख में भाषा और बोली के बीच बताए जाने वाले सामान्य अंतर को मिटाने की भरपूर कोशिश की गई है, परन्तु लेख में यह नहीं बताया गया कि दरअसल 'बोली' शब्द का आरम्भ कैसे हुआ। यदि अवधी-ब्रज बोली नहीं हैं तो फिर किसे बोली और किसे भाषा कहा जाता है? संभवतः बोलने वालों की संख्या को ही मापदंड बनाकर कुछ को भाषा और कुछ को बोली कहा जाने लगा होगा। वास्तव में भाषा-विज्ञान या व्याकरण को मापदंड बनाकर यह विभाजन किया ही नहीं गया है। कम-से-कम पूरे मध्यप्रदेश में तो यह माना जाता है कि यहां खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता है लेकिन मध्यप्रदेश के ही एक क्षेत्र छत्तीसगढ़ में जिस भाषा का प्रयोग होता है उसके बोलने वालों की संख्या प्रादेशिक स्तर पर मापी जाए तो काफी कम होगी, तो इसे भाषा कहेंगे या बोली?

पंजाबी पूरे प्रादेशिक स्तर पर ही बोली जाती है और उसे भाषा का ही दर्जा दिया गया है। मैं नहीं समझता कि पंजाबी, मैथिली, ब्रज और अवधी —

इनको बोलने वालों की संख्या को हिन्दी बोलने वालों की संख्या में शामिल किया गया होगा। वास्तव में होता यह है कि पंजाबी जानने वाला भी हिन्दी (खड़ी हिन्दी) अच्छी तरह से जानता है तथा उसका प्रयोग करता है। ब्रजभाषा तथा मैथिली जानने वाला हिन्दी भी अच्छी तरह जानता है। कहने का तात्पर्य यह कि अधिकांश व्यक्ति अपनी मातृभाषा या बोली जानने के साथ-साथ हिन्दी भी जानते हैं। इस तरह हिन्दी बोलने वालों का संसार विस्तृत नजर आता है। व्यावहारिक तौर पर भी हम यही देखते हैं कि दो ही भाषाएं व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रही हैं — हिन्दी और अंग्रेज़ी।

लेख के अंत में अग्निहोत्री जी का यह कथन कि — “हिन्दी को मानकीकृत भाषा का दर्जा देने के लिए ब्रज और अवधी को उसकी बोलियां बनाने का प्रयास हो रहा है।” — यह मुझे ठीक नहीं लगा। हां यह अवश्य है कि हिन्दी के प्रयोग हेतु लोगों को प्रेरित किया जा रहा है और भविष्य में हिन्दी ही व्यापक तौर पर प्रयोग की जाएगी। क्या अंग्रेज़ी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए कोई योजनाबद्ध प्रयास किया गया था? परन्तु आज अंग्रेज़ी सभी देशों में घुसती जा रही है।

संदर्भ के अंक-12 में साधना जी के लेख का शीर्षक था — “गुम होती बोलियां” यहां बोलियों से उनका क्या आशय था? क्या भाषा और बोली ये

दोनों शब्द समानार्थी हैं या भिन्न अर्थ रखते हैं? वैसे उस लेख में शुरू से ही उनका हिन्दी के प्रति पूर्वाग्रह स्पष्ट झलक रहा था। लेख में उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न 'हिन्दी ही क्यों और कौन-सी वाली हिन्दी' मुझे समझ में नहीं आया। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि जब भी हम हिन्दी की बात करते हैं तो जिस लिपि/भाषा में मैं पत्र लिख रहा हूँ, जिसमें संदर्भ छपती है, उसी भाषा से हमारा आशय होता है।

दरअसल इन हिन्दी विरोधी लेखकों की शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी में होती है तथा इन्हें मातृभाषा का लगाव जिनका जिक्र वे लेख में करते हैं होता ही नहीं। अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए इन्हें अंग्रेजी में छपी पुस्तकों या अंग्रेजी लेखकों के विचारों की सहायता लेनी पड़ती है। लेख के अंत में लिखना पड़ता है कि इस लेख की अधिकतर तथ्यात्मक जानकारी अमुक-अमुक अंग्रेजी किताबों से ली गई है।

संदर्भ के लगातार दो अंकों में आपने भाषा से संबंधित लेख प्रकाशित किए हैं जिनमें कुछ ऐसा आशय झलकता है कि 'हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों बनाया जा रहा है' मुझे लगता है कि कहीं संदर्भ ज्ञान-विज्ञान की जानकारी देने के बदले किसी भाषाई विवाद को जन्म न देने लगे। आपका उद्देश्य हिन्दी की पैरवी करना या उसका विरोध करना कतई नहीं है। ज्ञान के और भी पहलू अछूते पड़े हैं जिन्हें आपको लोगों तक पहुंचाना है।

संदर्भ में रसायन विज्ञान से संबंधित लेख अधिकतर होते हैं लेकिन भौतिकी तथा गणित से संबंधित लेख कम। 'आयनिक बंध और परमाणु' तथा 'सहबंधन यानी इलेक्ट्रॉन की साझेदारी' ये दोनों लेख (अंक 12-13) अन्य विषयों के शिक्षकों के लिए क्लिष्ट ही साबित हुए हैं।

गणित के विषय में सुनते हैं कि भारत के रामानुजन ने बहुत ही जटिल प्रमेयों को निष्कर्ष रूप में लिख दिया था, जिन्हें अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। गणितज्ञों के ऐसे निष्कर्षों को संदर्भ में प्रकाशित कीजिए ताकि गणित के शिक्षक उन्हें जान सकें। ये शायद 'रामानुजन प्रॉब्लम्स' के नाम से जाने जाते हैं।

अंक 12 में नूतन झा के लेख 'द्वंद्व से शिक्षा' के अंत में उनका परिचय 'दिल्ली में रहती हैं' छपा होना काफी अटपटा-सा लगा। क्या दिल्ली में रहना कोई उपलब्धि है, या आपने लेख इसलिए छपा कि वे दिल्ली में रहती हैं? निश्चय ही व्यावहारिक क्षेत्र में उनकी और भी उपलब्धियां होंगी।

अंक 13 में 'क्यों छोड़ा स्कूल ओटा ने . . .' में उठाया गया प्रश्न सोचने को बाध्य करता है। भौतिक, गणित जैसे कठिन विषयों को सीखने के बाद व्यक्ति नौकरी लगने पर सभी कुछ भूल जाता है। भारतीय शिक्षा जगत में शिक्षक ज्यों-ज्यों उम्रदराज होता जाता है वह अपने विषय का विशेषज्ञ बनने की बजाए

अकर्मण्यता-अज्ञानता की ओर बढ़ता जाता है। क्यों नहीं वह नए कोर्स पढ़ा पाता, जबकि कोर्स में मामूली-सा फेरबदल किया गया हो?

खैर, कुछ भी हो संदर्भ अपने पाठकों को सोच-विचार के लिए प्रेरित करती है। शायद ऐसी गिनी-चुनी किताबें होंगी जिनको पढ़ने के बाद पाठक कुछ सोचने के लिए समय देता होगा।

दिलीप झा
शास. उच्च. माध्य. विद्यालय
तामासिवनी, रायपुर, म. प्र.

तेरहवें अंक में 'कौन भाषा, कौन बोली' लेख पढ़ते समय ऐसा बार-बार लगा कि 'गुम होती बोलियां' (अंक - 12) वाले लेख को ही दुहराया जा रहा है।

रमाकांत जी और साधना जी के लेखों में बोलियों को बचाने की गुहार पढ़कर लगता है कि दिल्ली के बुद्धिजीवियों ने एक नया चोला पहन लिया है। कुछ साल पहले दिल्ली विश्वविद्यालय और जे. एन. यू. की एक बड़ी लॉबी हिन्दी विरोधी और अंग्रेज़ी को समर्थन देने वाले लेख लिखती थी और वक्तव्य देती थी। उन दिनों यही फैशन चल रहा था। लेकिन पिछले दस सालों में दिल्ली विश्वविद्यालय और जे. एन. यू. के कुछ बुद्धिजीवी - स्थानीय इतिहास, लोक-कला, लोक-संस्कृति वगैरह को बचाने की अपील करने लगे हैं। शायद इसी फैशन के चलते बोलियों

को बचाने की बात भी की जा रही है। फिर पुराना हिन्दी विरोधी रुख भी बरकरार है। इसलिए इन लेखों में यह दिखाने की कोशिश हो रही है कि हिन्दी भाषा ही बोलियों को निगल रही है। इस पत्र के माध्यम से मैं उक्त दोनों लेखकों से यह कहना चाहता हूँ कि आज की उपभोक्ता संस्कृति में वही भाषा अहम् भूमिका निभाएगी, जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी। घर-परिवार में इस्तेमाल होने वाली बोलियां तो अब ऐसी अहम् भूमिका निभाने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि कुछ भाषाएं भी हाशिए में जाने वाली हैं। इसलिए इस कटु सत्य को स्वीकार करते हुए हमारे 'बोली प्रेमी' लेखक घड़ियाली आंसू न बहाएं यही अच्छा रहेगा।

डॉ. आर. सबरवाल
जार्ज टाऊन, इलाहबाद, उ. प्र.

बच्चों की भाषा चिंतन का विषय है, उनकी भाषा तो परिवेश से बनती है। अगर उसे सुनने मिलेगा 'महेस' तो वह उसे अपनाएगा ही। परेशानी यह है कि उसके सामने भाषा को तोड़-मरोड़कर उसके बचपन से ही पेश किया जाता रहा है। क्या ज़रूरत है कि 'मेला प्याला-प्याला बेटा दुदु पियेगा' या ऐसा ही कुछ कहने की? और फिर वह ऐसा कुछ कहता है तो उस पर हंसा जाता है या ऐसा दुहराने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यदि हम बच्चे पर हंसते हैं तो वह बेचारा फिर असमंजस में पड़ जाता है

कि उससे गलती कहां हुई? अब रही बात स्कूल की, तो शिक्षण कार्य तो उसे ही करना चाहिए जिसकी वास्तव में इस काम में रुचि हो।

बच्चों के उच्चारण संबंधी सुधार हेतु इस तरीके को अपनाया जाए तो कैसा रहे? जैसे बच्चा 'श' को 'स' कहता है तो उससे संबंधित छोटे वाक्य बुलवाइए। बोर्ड पर कुछ चित्र बने हों जैसे गेंद, गिलास आदि। फिर बच्चों से पढ़वाइए — यह दिनेश या रमेश की गेंद है।

संदर्भ के अंक-14 में धरती का घूमना रोचक रहा तथा नए बनते समुद्र में पृथ्वी के चुंबकीय ध्रुवों के पलटने की नई जानकारी छात्रों के बहुत काम आई। क्या बच्चों के बहाने कुछ अधूरे से नहीं लगे?

इसी तरह एक शाम जब जादूगर ने हमारे छात्रों के साथ गुजारी तो आक्टोपस और गुबरेले द्वारा भोजन परोसने पर उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी पर उन्हें बहुत मजा आया। कुछ ऐसी ही कहानी उन्होंने भी बना डाली। और अंत में एक बात मैं जानना चाहती हूँ कि कैल्शियम कार्बाइड का सूत्र CaC_2 , क्यों होता है? मुझे यह जानकारी छात्रों को देनी है।

कविता शर्मा
सरस्वती विद्या मंदिर, हरदा

नया अंक पढ़ा। 'कैसे बनेगा सहबंध' और 'समुद्र का फैलना...' काफी रोचक व ज्ञानवर्धक लेख लगे। आमोद जी ने प्लेट टेक्टोनिक्स पर काफी परिश्रम किया,

उन्हें साधुवाद।

सुशील जी के लेख का विषय काफी जटिल था, संभवतः इसी कारण अभिव्यक्ति भी उलझी और उबाऊ हो जाती है। इसमें लेखक का दोष नहीं है। परमाणु संबंधी संकल्पनाएं और जानकारियां, निष्कर्ष और सिद्धांत जितनी स्पष्टता के साथ समझे जाएंगे, उन्हें उतनी ही सहजता के साथ अभिव्यक्त किया जा सकता है। यद्यपि लेखक ने गणितीय अवधारणाओं से बचने की कोशिश की लेकिन लगता है कि बिना गणित के इस विषय को समझना संभव नहीं है। बहरहाल परमाणु संबंधी अनेक बातें फिर भी स्पष्ट होती हैं तथा इस विषय पर पढ़ने-समझने की जिज्ञासा तो जागती ही है।

वाकई संदर्भ एक हिन्दी विज्ञान-पत्रिका के रूप में उभर रही है।

मनोहर बिल्लोरे
अधारताल, जबलपुर, म. प्र.

एक बार मेरे एक पैर में भी नींद आ गई थी। मैं अपने एक पैर पर दूसरा पैर बड़ी देर तक चढ़ाए बैठा रह गया था। जब अचानक उठा तो दूसरे ही क्षण मुझे बैठना पड़ गया क्योंकि उस पैर में जोरों से झनझनाहट होने लगी थी। सवालीराम ने इस सामान्य घटना पर वैज्ञानिक समाधान बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत किया है।

मनीष मोहन गोरे,
स्टेशन रोड, देवरिया, उ. प्र.

मैं प्राथमिक विद्यालय की एक शिक्षिका हूँ और ऐसे स्थान पर अध्यापन कार्य कर रही हूँ जहाँ अशिक्षित परिवारों से बच्चे पढ़ने आते हैं। इनका जीवन स्तर बहुत निम्न है। प्राथमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों को सभी विषय पढ़ाने होते हैं। विज्ञान की विद्यार्थी न होने के कारण मुझे इस विषय का गहन ज्ञान नहीं रहा अतः समय-समय पर अपनी शिक्षण समस्याएँ दूसरे लोगों के समक्ष रखीं। मेरे भाई — जो पहले टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च में थे — ने मुझे संदर्भ पत्रिका के बारे में बताया और इसका सदस्य बनाया।

मैं चाहती थी कि मुझे कुछ ऐसी विषय-वस्तु प्राप्त हो जिससे मैं बच्चों के स्तर पर विज्ञान को रुचिकर तरीके से पढ़ा सकूँ। बच्चों के लिए प्राथमिक स्तर पर कुछ ऐसी क्रियाएँ करवाऊँ जिससे उनमें विषय में रुचि बढ़े और सीखना सुगम हो सके। संदर्भ में, प्राथमिक कक्षाओं और उन अध्यापकों को, जिनका विषय विज्ञान नहीं रहा हो, ध्यान में रखकर लेख लिखे जाएँ तो उत्तम होगा। (इन लेखों में विज्ञान संबंधी क्रियाएँ जिन्हें बच्चे स्वयं करें, मॉडल जिन्हें परिवेश में उपलब्ध सामग्री से बनाया जा सके तथा शिक्षकों के लिए स्पष्ट निर्देश हों।) विज्ञान के खेल व वैज्ञानिकों के खोज संबंधी रुचिकर लेखों को भी पत्रिका में स्थान दिया जाए।

मंजुला,
फरीदाबाद, हरियाणा

चौदहवाँ अंक पढ़ा तो खत लिखें बिना न रहा गया। बहुत पहले मेरे मन में यह बात उठती रही है कि संदर्भ श्रेष्ठ शैक्षिक पत्रिका है लेकिन फिर भी इसमें उन सूक्ष्म त्रुटियों का अनुभव क्यों नहीं किया जा रहा है जिससे हमारी ही भूल, बच्चों की भूल का कारण बन जाती है। बाद में यही भूल आदत बन जाती है।

मेरे इस सवाल का जवाब रश्मि पालीवाल के लेख 'बच्चों की भाषा' में स्पष्ट रूप से उभरकर आया कि हम हाथी को हांथी, सफेद को शफेद, और परीक्षा को परिक्षा बोलते हैं तो बच्चों से यह उम्मीद क्यों करते हैं कि वे हांथी को हाथी लिखें। लेखिका का यह तथ्य तर्कसंगत है, जो हमें शिक्षण के प्रति हमारी निष्ठा व उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है। उन्हें बधाई। आशा है संदर्भ में आगे भी ऐसी ही सामग्री पढ़ने को मिलती रहेगी।

सवालीराम का उत्तर अच्छा था लेकिन लंबा हो गया। 'एक जीवनी की तलाश में' में जिस ज्ञान मार्ग की स्तुति की गई है उसमें राम नाम की महिमा का वर्णन भ्रमात्मक है क्योंकि कबीर तो निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास रखते थे फिर सगुण देवत्व की स्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन फिर भी उक्त लेख जीवनी के महत्वपूर्ण तथ्यों से सजा होने के कारण प्रभावशाली बन पड़ा।

राजश मुदाफल,
अंबा उ. मा. वि. आष्टा,
जिला बैतूल, म. प्र.

एक प्रयोग से उपजी बहस

सामाजिक उद्देश्यों से प्रेरित स्वयंसेवी संगठनों द्वारा औपचारिक शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम, पुस्तकें आदि तैयार करना एक दुर्लभ बात है। शायद एकाध ही ऐसी मिसाल होगी। उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र द्वारा कक्षा 6 से 10 के लिए तैयार किया गया पर्यावरण अध्ययन पाठ्यक्रम और पुस्तकें इन दुर्लभ मिसालों में से एक है। अपने ही गांव के पर्यावरण - घास, पानी के स्रोत, पेड़, मिट्टी, फसल, आदि और अपने ही घर की पानी की जरूरत, ईंधन की जरूरत, कूड़ा और गंदे पानी का उपयोग.... इन सब का व्यवस्थित अध्ययन और उनसे संबंधित समस्याओं के निदान हेतु स्कूल के छात्रों द्वारा पहल करवाना इस देश की शिक्षण प्रणाली में एक अनूठा कदम है। जाहिर है कि हर ऐसे ठोस काम से कई विवाद और बहस छिड़ती हैं। कुछ हद तक ये बहस काम के विकास के लिए उपयोगी और आवश्यक भी हैं। पिछले अंक में श्री दुनू रॉय ने इन पुस्तकों की समीक्षा की थी। उन्होंने इस प्रयास की सराहना करते हुए बहस के कुछ मुद्दे भी छोड़े थे। जवाब में पुस्तकों के लेखक श्री एम.जी. जैक्सन और उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र के डॉ. ललित पाण्डे ने अपनी प्रतिक्रियाएं दी हैं। आशा है कि अन्य पाठक भी अपने अनुभव और विचारों से इस बहस को आगे बढ़ाएं।

सपादक मडल

पर्यावरण अध्ययन: समीक्षा और उसके जवाब में. . .

आपकी पत्रिका के सितंबर-अक्टूबर के अंक में दुनू रॉय द्वारा हमारी पर्यावरण अध्ययन कार्य-पुस्तिकाओं पर प्रस्तुत समीक्षा 'पर्यावरण शिक्षा और आजीविका' के संबंध में मैं कुछ कहना चाहता हूं।

श्री राय का यह मानना है कि यह पाठ्यक्रम एक 'परजीवी विकास' को बढ़ावा देता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य किसी भी कीमत पर उत्पादन को बढ़ाना है और जिसके लिए प्रकृति और तमाम मानवीय मूल्य और रिस्ते ताक में रखे जाते हैं। ऐसे 'विकास' के उदाहरण स्वरूप उनके मन में शायद शासकीय व्यापारिक बनीकरण, पर्यावरण विनाशकारी उत्खनन, प्रदूषक उद्योग,

रसायनिक खेती ('हरित क्रांति') आदि रहे होंगे। निश्चय ही ये सब पर्यावरण और ग्रामीण समुदाय की कीमत पर बढ़ते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारे पाठ्यक्रम में भूमि की उत्पादकता बढ़ाने पर काफी जोर दिया गया है, ताकि लोगों की मूलभूत जरूरतें जैसे भोजन, जलावन और पानी पूरी हो पाएं। लेकिन साथ ही हमने छात्रों को ऐसी विधियों के बारे में भी सिखाया है जिससे उत्पादन में स्थाईत्व (अक्षयता) भी रहे और स्थानीय पर्यावरण की गुणवत्ता, ग्रामीण समुदायों की सामाजिक सहचारिता भी बनी रहे। यह आश्चर्य की बात है कि हमारी कार्यपुस्तिकाएं पढ़ने के बाद भी श्री

रोंय को ये बातें दिखाई नहीं दीं।

अपने पाठ्यक्रम का खाका तैयार करते समय हमने 'महिला मंगल दल' जैसे ग्रामीण संगठनों — जो कि स्वतःस्फूर्त रूप से सारे उत्तराखण्ड में उभरे हैं — से प्रेरणा ली है (कृपया देखिए कक्षा-8वीं की पुस्तक में बॉक्स नं. 26-1, "महिला मंगल दल, टंगसा गांव")। इन गांवों की महिलाओं ने बिल्कुल सही महसूस किया है कि सामग्री की किल्लत और बढ़ते काम के बोझ का कारण अपनी जमीन पर से उनका नियंत्रण खोना है। विशेषकर गांव की जंगली भूमि पर अधिकार खोना और सामूहिक वन प्रबंधन की परंपरा का क्षरण होना।

इस जांच-पड़ताल में यह तथ्य निहित है कि संपूर्ण कृषि तंत्र (जिसे पाठ्यक्रम में हमने 'ग्रामीण पारिस्थितिकी' कहा है) की उत्पादकता गांव के जंगल (जिसे पाठ्यक्रम में हमने 'पोषक क्षेत्र' कहा है) के स्वास्थ्य और उत्पादकता से जुड़ी हुई है। पिछली कुछ पीढ़ियों में ग्राम वनों का जो व्यापक विनाश हुआ है वो भी गांवों में गरीबी और तंगहाली का कारण है।

ये महिलाएं गांव के पारंपरिक पोषक क्षेत्र के प्रबंधन के लिए सामूहिक रूप में अपना दावा तो पेश कर ही रही हैं, साथ ही गांवों में संगठन को पुनर्जीवित करने की कोशिश भी कर रही हैं जो कि प्रभावी रूप से इसके प्रबंध को संभाल सकें। उन्होंने किसी से भी मदद की अपेक्षा करना बंद कर दिया है, खासकर सरकार से। उनके अपने संगठनों में उन्होंने सभी परिवारों — वास्तव में सभी लोगों — के भागीदारी और लोकतांत्रिक कार्यपद्धति की महत्व को पहचाना है। तो यह एक मॉडल है — एक खाका है। हमने

अपना पाठ्यक्रम कुछ इस तरह तैयार किया है जिससे कि यह प्रक्रिया और मजबूत हो — इस तरह कि आने वाली पीढ़ी के जो प्रबंधक हों उनके पास पारिस्थितिकी का ज्ञान, प्रबंधन की व्यवहारिक दक्षता हो, जिसकी उन्हें ज़रूरत पड़ेगी — अपने गांव के पोषक क्षेत्र को पुनर्जीवित करने और उच्च और टिकाऊ उत्पादन को स्थापित करने के लिए।

हम विद्यार्थियों को ब्रिटिश काल के दौरान उत्तराखण्ड में भूमि हस्तांतरण का इतिहास तो पढ़ाते हैं, उन्हें यह भी बताते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारी सरकार ने इन नीतियों को किस तरह जारी रखा (देखिए: कक्षा 10वीं कार्यपुस्तिका, बॉक्स नं. 57-2)। इसमें लोगों द्वारा भूमि हस्तांतरण के खिलाफ किए गए विरोध का एक ब्यूरा भी है।

हम इस बात से सहमत हैं कि गांव वालों को अपने जीवनयापन की वैध ज़रूरतों हेतु, अपने स्थानीय पर्यावरण के प्रबंधन के अधिकार के लिए जब भी ज़रूरी लगे सरकार के खिलाफ खड़े होना चाहिए। लेकिन हमारा यह भी मानना है कि वे यह भी जानें कि इन अधिकारों का इस्तेमाल किस तरह प्रभावी ढंग से करना है।

इस सबके साथ उन्हें इस सच्चाई का भी सामना करना पड़ेगा कि उनकी वर्तमान दुर्दशा में उनके कुप्रबंधन का भी कुछ हाथ है; इसीलिए ये सब बदलना होगा — उदाहरण के लिए जानवरों की चराई के तरीके को — क्योंकि यह तरीका पोषक क्षेत्र के प्रभावी प्रबंध से मेल नहीं खाता।

आज उत्तराखण्ड के लगभग हर गांव

में बिना किसी कानूनी बाधा के सामूहिक ज़मीन और पानी प्रबंधन की विस्तृत संभावनाएं हैं। कई जन समूहों का अनुभव भी यही बता रहा है। यानी स्थानीय ज़रूरतों के हिसाब से चारा, लकड़ी आदि के लिए गांव के बेनाप, वन—पंचायत, सिविल/सोयम भूमि के प्रबंधन में कोई कानूनी अड़चन नहीं है।

यदि कम-से-कम कुछ रिज़र्व वनों का प्रबंधन ग्रामीण समुदायों को न सौंपा गया तो उत्तराखण्ड में कई गांव आने वाले समय में शायद गुजारा नहीं कर पाएंगे, अगर वे अपनी जनसंख्या पर नियंत्रण कर लें, तो भी। इससे पहले कि वे अधिक ज़मीन पर नियंत्रण मांगें, उन्हें ज़मीन का बेहतर तरीके से प्रबंधन करने की अपनी क्षमता का परिचय देना होगा।

एक बात और जिस पर मैं टिप्पणी करना चाहूंगा। श्री राय पहाड़ों की खूबसूरती पर लिखते हुए शायद अपनी ही वाकपटुता से खिंचे चले गए। लेकिन वे एक नगरीय-उच्चवर्गीय, पर्यावरण उत्साही व्यक्ति की भावुकता दिखाते नज़र आ रहे थे। हमारा मानना है कि यह व्यर्थ है, क्योंकि इससे कोई सकारात्मक कार्यवाही नहीं निकलती है। यहां रहने वाले लोग अपने इन पहाड़ों का ख्याल अपनी जीविका-अर्जन के साथ करते हैं। और इस प्रक्रिया में खूबसूरती का सृजन भी होता है — सुप्रबंधित व उत्पादक खेत और जंगलों की खूबसूरती। वे किसी नैसर्गिक जंगल का पुनर्निर्माण नहीं कर रहे हैं और न ही कर सकते हैं। वो तो शहरी भावुकतावादी भी नहीं कर सकते हैं।

एम. जी. जैक्सन
अल्मोड़ा, उ. प्र.

पिछले अंक में उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र द्वारा तैयार पर्यावरण अध्ययन की किताबों की समीक्षा प्रकाशित हुई थी। समीक्षक की आलोचनाओं के संबंध में हमारा दृष्टिकोण हम स्पष्ट कर रहे हैं।

1. भाषा व शैली में सुधार करने के सुझाव पर हमें कोई आपत्ति या असहमति नहीं है। हमारी भी यही कोशिश रही है कि भाषा व शैली को यथासंभव सरल, रोचक और बोधगम्य बनाएं, लेकिन इस प्रयास में कुछ मुश्किलें भी अवश्य आती हैं।
2. गणना, चित्रण और व्याकरण की त्रुटियों तथा भूलों को सुधारने के सुझाव का भी हम स्वागत करते हैं। हम यही कोशिश करते हैं कि इस तरह की त्रुटियां न रहें, फिर भी कुछ छोटी-मोटी त्रुटियां अवश्य ही ठीक होने से रह गई हैं।
3. लेकिन, समीक्षक की इस बात पर हमें आपत्ति है कि इन कार्यपुस्तिकाओं में पर्यावरण की समस्या को समझने-समझाने में कुछ मूलभूत और गंभीर खामियां हैं। हमारे दृष्टिकोण में समीक्षक की यह मान्यता गलत और बेबुनियाद है। समीक्षक का यह सोच लेना कि कार्य-पुस्तिकाओं में वनों की हानि के लिए अंग्रेजी हुकूमत तथा आज़ादी के बाद की स्वदेशी सरकार की वन-सम्पदा के दोहन संबंधी नीति को उत्तरदायी न ठहराना और स्थानीय ग्रामवासियों द्वारा की गई अति कटाई, चराई तथा अन्य लापरवाहियों का बार-बार दोहराया जाना स्थानीय समुदाय के प्रति बरती गई उपेक्षा व उदासीनता के कारण है तथा ऐसा जानबूझकर किया गया है, नितान्त असत्य है।

कार्य-पुस्तिकाओं में एक से अधिक बार यह कहा गया है कि वनों के प्रबन्ध से स्थानीय समुदाय को अलग रखना बड़ी भारी गलती रही है। इसके अलावा हमारे दृष्टिकोण से आत्म-परीक्षण को भूलकर मात्र बाहरी अपराधियों पर ही दोषारोपण करना एक महंगी नासमझी होगी।

4. इसी तरह समीक्षक के कुछ अन्य कथन जैसे — “पुस्तकों के पन्नों से मानो पहाड़ का भावविहीन चेहरा ही झांक रहा हो”, “इस भेंट में मानव एक निर्जीव संसाधन मात्र प्रकट होता है” इत्यादि से भी हम पूर्णतया असहमत हैं। इन कार्यपुस्तिकाओं में मानव को केन्द्र में रखकर पर्यावरण की समस्याओं (स्थानीय) को परिभाषात्मक रूप में प्रस्तुत करने पर विशेष जोर दिया गया है, जो कि इन समस्याओं को वैज्ञानिक तरीके से समझने व सुलझाने के लिए नितान्त जरूरी है।

स्थानीय पर्यावरणीय समस्याओं से निपटने में आंदोलनात्मक सक्रियता तथा भावनात्मकता की भूमिका को नकारने का हमने कोई प्रयास नहीं किया है। कार्य-पुस्तिकाओं में स्थानीय समुदाय तथा ग्राम संगठनों के प्रेरणादायक कार्यों का विस्तार-पूर्वक उल्लेख भी किया गया है।

5. पाठ्यक्रम में विद्यार्थियों को यह विचार देने का प्रयत्न भी किया गया है कि गांव के पोषक क्षेत्र और जन संसाधनों का सहकारी ढंग से प्रबंध करके गांवों से शहरों की ओर पलायन की समस्या को टाल सकते हैं और गांव में ही रह कर बेहतर तरीके से जीवन-निर्वाह कर सकते हैं। पाठ्यक्रम में विद्यार्थी अपने

अध्ययन, गांव में खुद पर्यवेक्षण और मापन करके उत्पादन के वर्तमान स्तर ज्ञात करते हैं तथा भावी उत्पादकता का अनुमान भी लगाते हैं। अब तक अध्ययन किए गए गांवों में से अधिकांश के संबंध में यह अनुमान निकला है कि ‘पोषक क्षेत्र’ का बेहतर तरीके से प्रबंध करें तो अनाज, दूध, पानी, ईंधन इत्यादि बुनियादी जरूरतों की उपलब्ध मात्रा भविष्य में दुगुनी तक बढ़ सकती है।

इसी तरह से पाठ्यक्रम में विश्वव्यापी और स्थानीय आर्थिक, पर्यावरणीय तथा सामाजिक समस्याओं के बीच आपसी संबंध को समझाते हुए यह संदेश विद्यार्थियों को दिया गया है कि शहर को पलायन वास्तव में अब कोई विकल्प नहीं रहा है।

6. समीक्षक की टिप्पणी है ‘उत्तराखंड के ग्रामीण स्कूली बच्चों की वास्तविक अवस्था की पहचान की कमी है।’ हम इस आलोचना को स्वीकार नहीं करते। समीक्षक का मानना है कि 50 कि. ग्रा. क्षमता की कमानीदार तुला लेकर 12-13 वर्ष के छोटे बच्चे ग्राम-भ्रमण नहीं कर सकते, जबकि वास्तव में इस तुला का वजन आधा किलो से भी कम होता है। इसके अलावा ग्राम-भ्रमण में पर्यावरण शिक्षक भी बच्चों के साथ जाते हैं। ‘कक्षा 8 के विद्यार्थी की आदर्श छवि है’ समीक्षक की इस आलोचना के संदर्भ में हम यही कहेंगे कि जिन विद्यालयों में पाठ्यक्रम को ठीक तरीके से पढ़ाया जा रहा है, व्यावहारिक अभ्यास किए जा रहे हैं और पर्यावरण शिक्षक ने टोलियां बनाकर विद्यार्थियों को जिम्मेदारी सौंपी है, उन विद्यालयों

के संदर्भ में हमारा अनुभव यही रहा है कि विद्यार्थी अपेक्षा के अनुरूप व्यवहार कर रहे हैं।

7. पाठ्यक्रम में अधिकतर अभ्यासों को विद्यार्थी स्वयं करके सीखते हैं लेकिन कुछ अभ्यासों को लेकर, व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, जिसके कारण प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा प्रायोगिक कार्य करना संभव नहीं होता। ऐसे में यह सुझाव दिया गया है कि अध्यापक प्रयोग करके दिखा देंगे। जैसे कि पटवारी के पास आंकड़े लेने के लिए सारी कक्षा को भेजने में व्यावहारिक कठिनाई होती है। इसलिए शिक्षक स्वयं जाकर या किसी विद्यार्थी को भेजकर आंकड़े प्राप्त करने की व्यवस्था कर सकते हैं।

8. समीक्षक के द्वारा लिखी गयी बहुत-सी बातें उनके किसी भ्रम का परिणाम लगती हैं। उनको ऐसा लगता है कि कार्य-पुस्तिकाओं में सार्वजनिक प्रक्रियाओं तथा संयुक्त परिवार को अड़चन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जबकि वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है। इसी तरह 'तमाम पारम्परिक तरीकों की बलि चढ़ा दी जाती है' वाक्य भी गले नहीं उतरता है। हमने केवल उन्हीं परम्पराओं को बदलने का सुझाव दिया है जो वर्तमान संदर्भों में पर्यावरणीय हानि के लिए अत्यधिक उत्तरदायी साबित हो रही हैं, जैसे कि मुक्त चराई।

घास चारे की अपेक्षा पत्ती चारे को अधिक महत्व देने का कारण यह है कि एक तो निश्चित क्षेत्रफल में पत्ती चारे की उत्पादकता घास चारे की तुलना में कई

गुना ज्यादा होती है और दूसरा कि हमें पेड़ों से वर्ष भर हरा चारा प्राप्त हो सकता है।

'अधिकतम संभव उत्पादकता' को प्राप्त करना अवश्य ही पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य है, परन्तु इस का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि यह पूंजीवादी तथा नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित व प्राकृतिक जीवन के सिद्धांतों के विरुद्ध है। पाठ्यक्रम में बेहतर भूमि प्रबंध के द्वारा 'टिकाऊ तरीके से' 'अधिकतम संभव उत्पादकता' को प्राप्त करने का सुझाव दिया गया है, जो कि प्राकृतिक जीवन के सिद्धांतों के अनुकूल है तथा ग्राम समुदाय सहित सभी के लिए हितकर भी। यह ठीक है कि उपयोगिता की परिभाषा मानव समाज से जुड़ी हुई है लेकिन इस कथन का कोई औचित्य नहीं है कि 'बीज, आहार और भूसे की जरूरतें अनाज का नष्ट होना हुआ।'

निजी स्वार्थों को 'टिकाऊ उत्पादन' और रख-रखाव के लिए अहम् ठहराना कोई अनुचित बात नहीं है। उत्तराखंड की पर्यावरणीय समस्याओं के लिए ये प्रमुख रूप से उत्तरदाई रहे हैं। सामाजिक रिस्तों, सुख-दुख, जन्म-मृत्यु, तीज-त्यौहार का महत्व अपनी जगह है, लेकिन जीवन निर्वाह के लिए जरूरी ईंधन, चारा, पानी, अनाज आदि का भी उतना ही महत्व है। समीक्षक को इस तथ्य को समझना चाहिए।

9. समीक्षक का कहना है 'पानी को नियंत्रित करने के लिए प्लास्टिक की चादरें, पाइप और टैंक, पहाड़ी झरनों के कलरव को मूक कर देती हैं।' इस संदर्भ में हमारा दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक लगता है। क्योंकि उत्तराखंड के गांवों में जो लोग रह रहे हैं उनके लिए हिमालय या पहाड़ों

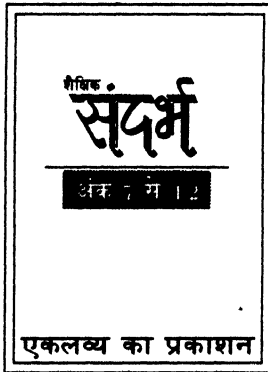
की सुन्दरता से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है इनकी मूलभूत जरूरतों (भोजन, लकड़ी, पानी, चारा आदि) की पूर्ति। अगर मूलभूत आवश्यकताएं ही पूरी न हों तो हिमालय की बर्फीली चोटियों की सुन्दरता भी आदमी को उन्हीं गांवों में रोक सकने में सक्षम नहीं होगी।

उत्तराखंड में पानी की समस्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। पहाड़ों में झरने या नदियां होने के बावजूद भी महिलाओं का बहुत-सा समय गांव से दूर बह रहे झरनों या अन्य जल स्रोतों से पानी लाने में व्यतीत हो रहा है। वर्षा का अधिकतर पानी इस क्षेत्र से व्यर्थ ही बह जाता है।

यदि इस पानी का किसी भी उपयुक्त विधि से संग्रह हो सके तो यह ग्रामवासियों, विशेषकर महिलाओं का काफी समय और ऊर्जा को बचाने में मददगार होगा। प्रकृति का आनन्द लेने या झरनों का कलरव सुनने में किसी को भी आपत्ति नहीं, परन्तु जब प्रकृति से हमारी मूलभूत जरूरतें पूरी न हो पा रही हों तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक रचनात्मक कदम भी हमें उठाने ही होंगे - क्योंकि सिर्फ प्रकृति को देखकर वर्तमान परिस्थितियों में पेट नहीं भरा जा सकता।

ललित पांडे
उत्तराखण्ड पर्यावरण शिक्षा केंद्र

संदर्भ सजिल्द - अंक 7 से 12



संदर्भ सजिल्द: संदर्भ के सातवें से बारहवें अंक का सजिल्द संस्करण। इन अंकों में जो सामग्री प्रकाशित हुई, उनका विषयवार इंडेक्स संस्करण के साथ है। संस्करण का मूल्य 60/- रुपए (डाक खर्च सहित) है।

राशि कृपया डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें:

एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001

एकलव्य
ई-1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल - 462 016